257
890 (P)
H
Microfilm

राष्ट्रीय अभिलेखागार पुस्तकालय
NATIONAL ARCHIVES LIBRARY
भारत सरकार
Government of India
नई दिल्ली
New Delhi

1284/1013

आह्वानांक Call No.

अवाप्ति सं० Acc. No. 890

स्वर्गीय मित्र रमाकान्त द्विवेदी की स्मृति में संस्थापित-
युगप्रवर्तक ग्रंथमाला का प्रथम " पुष्प "

" विद्रोहिणी "

रचयिता :

प्रह्लाद पांडेय " शशि "

—-o—

सर्वाधिकार लेखकाधीन

—जून १९४२,] [मूल्य १॥)

321

प्रकाशन स्थान—
युगप्रवर्तक ग्रंथमाला कार्यालय,
आर्यसमाज मंदिर.
उज्जैन,

IMPERIAL RECORD
No. 2
Date 19.1.44
Department.

प्रथम संस्करण.

१५००.

NATIONAL ARCHIVES LIBRARY
No 890
Date 24.12.71
GOVT. OF INDIA

मुद्रक—
भूपेंद्रनाथ त्रिवेदी,
युनीवर्सल डायरेक्टरीझ प्रिन्टींग
एन्ड पब्लीशिंग वर्क्स,
२९४ ए. कालबादेवीरोड, बंबई नं. २.

891.43
P 192 V.

कविताएं

—— :o: ——

क्रमाङ्क	नाम		पृष्ठाङ्क
१	विद्रोहिणी	....	१
२	मातृवंदना	....	६
३	मेरा परिचय	....	१०
४	सफल जीवन	....	१५
५	कविके प्रति	....	२१
६	विद्रोही	....	२५
७	देख सको तो मानव देखो	....	२९
८	निर्झर	....	३४
९	क्रांतिदूत	....	३७
१०	आत्मगीत	....	४१
११	आह्वान	....	४३
१२	सत्याग्रही	....	४७
१३	पर मुझे मत भूल जाना	....	५०
१४	गीत	....	५८
१५	शक्ति	....	६१

१६	ठहर ! ठहर ! अंगारोंवाले किस प्रवाह में तू बहता है	....	६४
१७	मज़दूर	....	६५
१८	हृदय वीणा	....	७२
१९	अपने पथपर तू बढ़ता चल	....	७६
२०	नरपति से	....	८०
२१	गांधी की आंधी	....	८८
२२	तुलसी की वाणी	....	९५
२३	बलिदान	....	९९
२४	उद्बोधन	....	१०७
२५	जाग उठा यौवन–अंगारा	....	११३
२६	रण–निमंत्रण	....	११७
२७	मानव के प्रति	....	१२२
२८	कुचली क्षायाचीर फेंकती ज़ुल्मों के इतिहास पुरातन	....	१२५
२९	मुक्ति का द्वार	....	१२९

पंथ का प्रकाश

किसी भी राष्ट्र के उत्थान और पतन की बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी वहां के साहित्यकारों पर है। साहित्यकारों में कवि का अपना एक विशिष्ट स्थान है। मेरे विचार में कवि संसार की संस्कृतियों को एक क्षण में उलट सकने और तत्काल दूसरे ही क्षण नवनिर्माण कर सकने की अद्भुत शक्ति रखता है। यदि वह एक ओर पतन के भयंकर सागर की सीमाओं को आसानी से तोड़ सकता है तो दूसरी ओर उसकी फ़ौलादी किलेबन्दी करके उसे युगानुयुग तक मज़बूत नियंत्रण में भी रख सकता है। कविता एक कला है और वह कवि की अपनी सम्पत्ति है। उसपर उसका पूर्ण अधिकार है किन्तु मानव समाज के लिए उसका उपयोग करने में कवि स्वतन्त्र नहीं है। उसे अपनी कला का उपयोग करने का अधिकार वहीं तक है जहां तक कि मानव जाति को उससे अमृत मिलता रहे—मनुष्यता प्रभात कालीन कमल की भांति नित्य नवीनता लिए हुए विकसित होती रहे। इसके विरुद्ध यदि उसकी कला स्वच्छन्द गति से, बिना किसी की परवाह किये, अपने नग्न रूप के तेज ज़हर से मानव जाति को पतन के अंधगर्त में ढकेलती हुई उसके विनाश का षड्-

यंत्र करती है तो अपनी उस दोषयुक्त वस्तु को कला कहकर मानव समाज के सामने रखने का कवि को कोई अधिकार नहीं रह जाता—और न क़ानूनन रहना ही चाहिए। निर्दोष कला के द्वारा ही कवि को मानव जाति के प्रति अपना दायित्व वहन करने का अधिकार है।

'कला, कला के लिये' का राग अलापना बिलकुल बेसुरा और भद्दा है; किन्तु वास्तव में कला संसार की मानव प्रवृत्तियों के विकास और उनके चिरस्थायी कल्याण के लिये है।

जिस तरह कवि कभी प्रकृति के परिवर्तन, शरद की पूर्णिमा के अमृत बरसाते हुए चन्द्रमा, उज्वल तारिकाओं से भरी हुई रजनी, उदय होते हुए बाल-रवि की रक्तिम किरणें दिन और रात के संधिकाल में अस्त होते हुए सूर्य की रक्ताभा से प्रकाशमान पृथ्वी और बादलों के रंगीन टुकड़ों से भरे हुए अनेक मनोभावन दृष्यों को देखकर कलापी की तरह उन्मत्त होकर गा उठता है, कभी अपनी प्रेयसी के द्वारा ठुकराया जाकर और कभी उसका प्यार पानें में सफल होकर अपने आप में आत्म-विभोर हो जाता हैं!

जब कवि प्रकृति के बदलने अपने सफल, असफल प्यार के गीत और बपचन की मधुर स्मृतियों तथा वृद्धावस्था के दुखों की कल्पना करके उसकी भयंकरता और इसी तरह के गीत लिख और गा सकता है, तो क्या रोटी के एक टुकड़े के अभाव में तड़प-तड़प कर हाहाकार करते हुए मानव को देखकर, वस्त्रों के अभाव में अर्धनग्न और

निस्सहाय अवस्था में जन पथ पर पड़ी हुई मृत देह को, जिसके उपर आंसू बहाने वाला भी कोई न हो—को देखकर समाज की तकतन्त्री पूँजीवादी व्यवस्था जिसमें एक मानव समुदाय सोने—चांदी के टुकड़ों के बल पर दूसरे साधन हीन निर्बल और निरीह मानव समुदाय पर अन्याय, अत्याचार और दमन करके, उनकी स्त्रियों पर दिन दहाड़े बलात्कार करके और फिर उनकी उजड़ी हुई अस्मत को ठोकर मारकर राक्षसों की तरह स्वच्छन्दता से खूनी खेल खेलकर भी पीर, पैगम्बर और देवताओं की तरह पूजा जाता हो—को देखकर कवि का हृदय नहीं छटपटा उठता? क्या वह मानव जीवन की इस विषम व्यवस्था का चित्र नहीं खींच सकता? क्या वह अपनी लेखनी से शब्दों के ऐसे भयंकर नवीनतम अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण नहीं कर सकता? जो स्वयं एक प्रलकारी विस्फोट के साथ संसार की इस नारकीये पूजीवादी व्यवस्था के चिथड़े चिथड़े उड़ा सके?....क्या वह इस गुलामी को, जो सभ्य कहलाने वालों के मुँह पर भी कलंक की स्याही की तरह पुती हुई है, सदा के लिए नहीं मिटा सकता?

क्या स्वतन्त्रता की सांस लेनेवाली सबल मानव जाति के द्वारा पराधीनता के दूषित शव को ऐसी जगह नहीं दफना सकता कि वह फिर कभी भी निकलने का साहस न कर सके (?) क्या दमन की भित्ति पर खड़े हुए एकछत्र निरंकुश शासन के उस जुल्मी राजदंड को खण्ड–खण्ड कर के सदा के लिए उसके काले इतिहास के साथ भस्मीभूत नहीं कर सकता?

क्या कवि की लौह-लेखनी और वज्र-वाणी यह सब न कर सकती !....मैं दावे से कह सकता हूं कि कवि यह सब कुछ कर सकता है; यदि वह कल्पना लोक में बिहार न करके सच्चे अर्थों में कवि है—और दुनियां के सुख-दुख को अपने में महसूस करने वाला है तो, इस प्रकार वह विश्व के संघर्षण काल का सेनानी एक युगपरिवर्तन के साथ वर्तमान और भविष्य .के नव निर्माण ·का अजस्र श्रोत सिद्ध होगा। मेरे विचार में ऐसा कवि प्रत्येक युग के वर्तमान में मानव जाति के भूत और वर्तमान को सही सही बतलाने वाला अमर थर्मामीटर होगा।

कविता का उदगम—स्थान बाह्य जगत है। जब कवि बाह्य जगत की घटनाओं का निरीक्षण करता है तब किसी घटना विशेष से उसके हृदय में एक स्पंदन हो उठता है वही स्पंदन बाह्य और अन्तर जगत के सम्मिश्रण से कविता बन जाता है। इसी स्थल पर आकर कवि को अपने आप को लोक कल्याण की भावना में लय करके युगधर्म के अनुरूप अपनी कृति की निर्मिति करनी चाहिए। जब कवि का तन, मन, प्राण और प्रत्येक निश्वास युगधर्म के स्वर से गूँज रहा हो—युग-धर्म के रंग में रंगा में हो तो वह आपने आप में खोकर भी युग-धर्म के अनुरूप ही यथार्थ सृष्टि करता है। और वही मानव हृदय को उत्प्रेरक, स्फूर्तिदायी तथा मार्ग दर्शक होती है।....युगधर्म के प्रलयंकर तूफान के विरुद्ध चलने वाले

किसी भी कवि का अस्तित्व नहीं रह सकता वाल्मीकि और वेद व्यास ने रामायण और महाभारत लिखकर युग धर्म की पूर्ति की है। ये दोनों ग्रन्थ आज भी नये से लगते हैं, इनकी अनेक बातें सिद्धांत तः मानव जीवन को सदियों से सुन्दर आदर्श प्रदान करती आ रही हैं और संसार का जब तक अस्तित्त्व है तब तक ध्रुव सत्य को भांति मानव जीवन को ओज बल और स्फूर्ति प्रदान करती रहेंगी। इसी प्रकार चन्द और भूषण जैसे कवियों की अमर वीर वाणी भी विश्व के संक्रांति कालके इतिहासों की पुनरावृत्ति के समय निराश, उत्साह हीन और अशक्त मानवों के हृदय में आशा, कार्य में उत्साह और भुजाओं में बल का अमृत संचार करती रहेंगी।

काव्य का पिछला इतिहास बतलाता है कि अधिकांश कवियों ने केवल रोटियों के लिये विदेशी साम्राज्य वादी झंडें की छाया में बैठकर उसकी जड़ें मज़बूत करनेवाले कर्त्तव्य हीन कंचन-कामिनी और शराब के उपासक पतित राजाओं, नवाबों, ज़मीदारों तथा अन्य धन कुबेरों की जूतियां उठाईं। अपनी कला का उपयोग अन्याय अधर्म और पाप की राक्षसी वृत्तियों के संवर्द्धन करने के लिये किया। राष्ट्र और संपूर्ण विश्व की सभ्यता, संस्कृति और उत्पीड़ित मानव जीवन के साथ घोर विश्वास घात किया। शृंगार के गीतों में नारीत्व की नंगी तस्वीर खींचनेवाले वे पतित और गुलाम कलाकार (?)–राष्ट्र के निर्माता (?)

मैं मेवाड़ प्रिंटिंग प्रेस बम्बई के मालिक तथा 'संग्राम" के बेधड़क और मस्त संपादक श्री भूपेन्द्रनाथ त्रिवेदी को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रहसकता जिन्होंने अनेक कठिनाइयों और असुविधाओं के होते हुए भी 'विद्रोहिणी' के छापनेका भार अपने ऊपर लिया और उसे पूर्ण किया है।

मैं अपनी घोषणा के अनुसार इस प्रकाशन में ११) का सहयोग देनेवाले मित्रों के नाम धन्यवाद और आदर सहित प्रकाशित करता हूं....

श्री बाला साहब मंत्री आर्यसमाज उज्जैन,
श्री बालचन्द जी भंडारी, इन्दौर
श्री श्रीलालजी पटवा, इन्दौर

अंतमें मैं विद्रोही आज स्वाधीनता दिवस के उपलक्ष में राष्ट्रनिशान के नीचे खड़ा होकर, अपने देश की स्वाधीनता प्राप्ति के लिये नवजवानों, साहित्यकारों, कलाकारों, राजाओं नवाबों और संप्रदायों को एक संगठित विद्रोहका आमंत्रण देता हूं। मेरा अहिंसात्मक विद्रोह संसार की विषमता को मिटाकर विश्वशांति का इच्छुक है।

●

— क्रांति अमर हो —

●

—२६ जनवरी १९४२ **प्रह्लाद पांडेय "शशि"**

स्वाधीनता दिवस

समर्पण

अपने मानस मंदिर में अंतर-चक्षुओं द्वारा–
निर्मित, तेरी मूर्तिमयी प्रतिमा के
पदारविंदों में स्थित, मेरी वाणी से
मुखरित हुए, उत्पीड़न और
वेदनाजन्य रोष भरे तेरे
ये भैरवनिनाद, तुझे
ही समर्पित हैं;
हे जननी
जन्म
भू
मि
!!

"शशि"

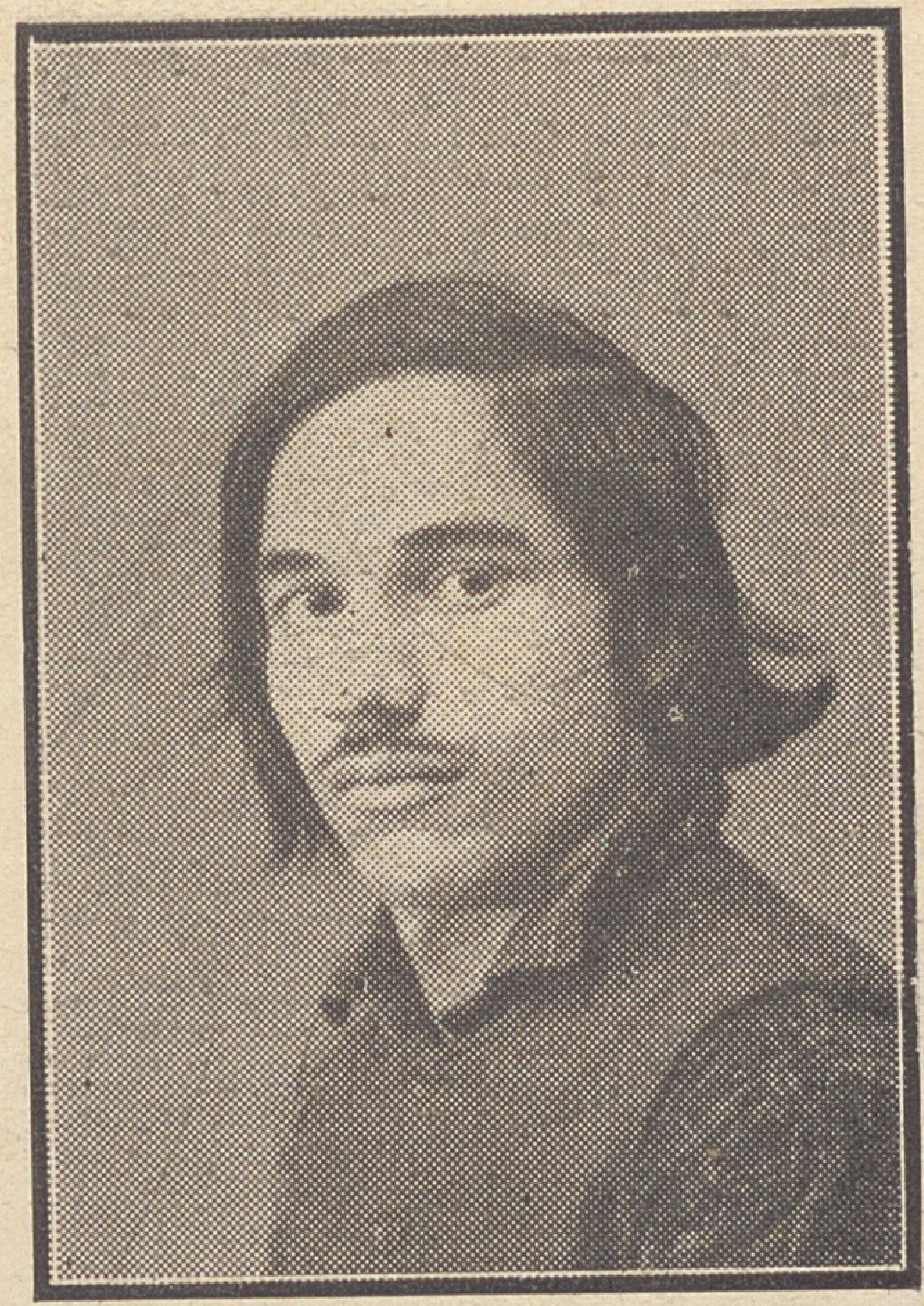

लेखक

अभिनव उथल-पुथल ले लहरें,
नभ-चरणों को चूम चलेंगी।
निखिल धरित्री, नभ की छाती,
बड़वानल में लपक जलेंगी॥

फूट पड़ेगा कम्पमान अचलेश,
लिये विस्फोट भयंकर।
छूट पड़ेगा शूल करों से,
भूल चलेगा ध्यान महेश्वर॥

टकरायेंगे अचल अचल से,
महाप्रलय-सा वज्रघोष ले।
मार्ग बदलती उफन चलेंगी,
सरिताएं विद्रोह-रोष ले॥

जिधर द्रोहिणी चरण धरेगी,
बिजली उधर कड़क उट्ठेगी।
सत्वर महानाश की नाशक,
ज्वाला उधर भड़क उट्ठेगी॥

युगानुयुग के पाप जलेंगे,
धू-धू-धू अभिशाप जलेंगे।
अग्नि-स्नान करेगी धरिणी,
और स्वयं त्रय-ताप जलेंगे॥

सूर्य व्योम को छोड़ चलेगा,
शांत सोम में अगिन जलेगी।
तारे बन अंगार गिरेंगे,
भूमि गेंद-सी ढुलक चलेगी॥

दुनियां कहती जिसको ईश्वर,
त्राहिमाम कर भाग चलेगा।
अपनी अन्यायी सत्ता के,
साथ आप ही आप जलेगा॥

अरे! अधर में घूम द्रोहिणी,
महा प्रलय का खेल करेगी।
नाशक हाहाकार – हलाहल,
एक श्वास में पान करेगी॥

इसी द्रोहिणी के इंगित पर,
पंच—तत्व विद्रोह करेंगे ।
इसी द्रोहिणी के इंगित पर,
पंच–तत्व निर्माण करेंगे ॥

अपनी द्रोहमयी माया को,
क्रुद्ध द्रोहिणी सिमटा लेगी ।
जलमय महा शून्य में अपनी,
सृजनमयी बूँदें डालेगी ॥

घरर–घरर कर पुनः भयंकर,
सारा जल हिल्लोल उठेगा ।
आकुल–व्याकुल धरणी का तन,
रुंधी सांस निज खोल उठेगा ।

तप्त धरित्री चमक उठेगी,
जैसे हो कंचन की ढेरी ।
दुनियाँ की नव निर्मिति होगी,
स्वप्न बनी सदियों से मेरी ॥

सर्वनाश की लाल चिता पर,
विश्व–शांति की बीन बजेगी ।
विश्व एक परिवार बनेगा,
सबल राक्षसी प्यास मिटेगी ॥

सर्वधर्म की बँधी क़ब्र पर,
नरता का सूर्योदय होगा ।
मंदिर–मसज़िद–गिरजों जैसा,
मानवता का पूजन होगा ॥

यहां झोपड़ी और महल की,
विषम व्यवस्था नहीं रहेगी ।
यहां नहीं धनवान रहेंगे,
यहां गरीबी नहीं रहेगी ॥

सौ–सौ सदियों की मानवता,
ले अंगार भभक उट्ठी है ।
ज्वालाभरण पहिन आंधी–सी,
विद्रोहिणी धधक उट्ठी है ॥

—१२ नवम्बर १९४१

मातृ-वंदना

★

पद-वन्दन के नूतन क्षण में,
मातृ मही तू वर दे, वर दे।

क्रांति लिए, विद्रोह लिए, मैं,
तीव्र हलाहल पान करूँ मां।
शत-शत पीड़ित कंठों में निज,
पाश-मुक्ति का गान भरूँ मां॥

अपने युग का मैं प्रलयंकर,
लाल हुताशन लील चलूँ मां।
ज्वालागिरि-सा धधक उठूँ मैं,
अन्धड़ के प्रतिकूल चलूँ मां॥

रोषपूर्ण निज दृष्टि-पात से,
शत्रु–खड्ग मैं गिरा चलूँ मां।
मैं मृत्युंजय, मैं वरदानी,
सृजन–चक्र को फिरा चलूँ मां॥

जग का मैं पोषक किसान,
ले द्रोहमयी हुँकार चलूँ मां।
मैं शोषित मजदूर विश्व का,
ज़ालिम को ललकार चलूँ मां॥

रुद्ध–कंपिता मानवता में,
नव–जीवन के गीत भरूं मां।
सस्मित नर के हित साधन में,
अपना सिर भी भेंट करूं मां॥

मैं क्या हूँ ? मैं अपना युग हूँ,
नव-युग का तूफ़ान अरी मां !
निखिल धरित्री को देता हूँ,
अमरण का वरदान अरी मां ॥

दुनियाँ कहती जग नश्वर है.
मुझे अनश्वर कहने दे मां ।
मस्त जवानी के झूले पर,
मुझे झूलता रहने दे मां ॥

मेरा यौवन जग का यौवन,
मेरा द्रोह जगत का विप्लव ।
मेरा सुख-दुख जग का सुख-दुख,
मेरे स्वर में भव का जन-रव ॥

अत्याचारों के विरुद्ध मैं,
धूमकेतु सा घूम चलूँ मां ।
बनूं प्रभंजन क्रोध-भरी,
सागर की लहरें चूम चलूँ मां ॥

विकृत चिर निद्रामय जग को,
फिर से मुझे जगाने दे मां।
मरणासन्न विकल नरता की,
मुझको लाज बचाने दे मां ॥

भूखों-नंगों का सेनानी,
बोल रहा मैं युग की वाणी।
महल - झोपड़ी एक बना दे,
मेरी नव सत्ता कल्याणी ॥

चढ़ूँ क्रूस पर सदा विहँसता,
सौ-सौ बार चढ़ूँ शूली पर।
सदा तुझे आज़ाद रखूँ मां,
झूल मृत्यु के हिंडोलों पर ॥

मुझे वज्र की घुटी पिला दे,
मेरी देह अनश्वर कर दे।
पद वन्दन के नूतन क्षण में।
मातृ मही तू वर दे, वर दे ॥

—११ अक्टूबर १९४१

मेरा परिचय

जगती की हूँ अमर ज्योति मैं,
महानाश की सांस भयंकर ।

मेरी रग-रग के शोणित में,
लहराता विप्लव का सागर ।

किसी नशे में मस्त मौन मैं,
फोड़ चला ज़हरीली गागर ॥

स्नायु-स्नायु में महाशक्तियां,
अंगुलियों पर गिरि गोवर्द्धन ।
दुनियाँ की संचित चेतनता ,
मेरी छाती की चिर धड़कन ॥

मत रोको तुम मेरे पथ को,
जिस पर बहती शत-शत गंगा ।
आहुतियां बनकर चढ़ने दो,
मैं कलियुग का भूखा-नंगा ॥

अरे ! पुरुष हूं-पौरुष मुझ में,
फिर क्यों अपनी हिम्मत हारूं ?
आहें भर-भर अंधे जग के,
आगे क्यों मैं हाथ पसारूँ ?

मेरी पलकों में सोता है,
सत्यानाशी वह प्रलयंकर ।
जगती की हूं अमर-ज्योति मैं,
महानाश की सांस भयंकर ॥

मातृभूमि के लिए हृदय में,
जिस मानव के प्यार नहीं है।
सत्य सत्य! ध्रुव! सत्य उसे कुछ,
जीने का अधिकार नहीं है।

कैसी अग्नि-शिखाएं उठतीं,
भूखे नर के अभ्यंतर में।
मुझ से पूछो! मुझसे पूछो!!
स्वयं देखलो दुनियाँ भर में!!!

इन महलों की ईंट-ईंट में,
नरता का बलिदान चढ़ा है।
शोषित मज़दूरों के शोणित-
से इनका सम्मान बढ़ा है॥

तुम से कुछ भी द्वेष नहीं है,
ओ महलों में पलने वालो!
किन्तु युगान्तर बोल रहा है,
रोते नर को गले लगा लो॥

निश्चित मेरी भग्न झोपड़ी,
भावी सत्ता का नव निर्झर।
जगती की हूँ अमर ज्योति मैं,
महानाश की सांस भयंकर ।।

अग्निमुखी पर्वत से मैंने,
है अंगार उगलना सीखा ।
अरे! शहीदों के शव से ही,
स्मशान पर जलना सीखा ।।

चाह नहीं है गगन विचुम्बित,
प्रासादों के आरामों की।
चाह नहीं है सोना—चांदी,
रत्नों भरे ख़जानों की ।।

चाह नहीं, पद लोभी बनकर,
स्वाभिमान्यता खो देने की ।
नहीं दानवी परवशता को,
पाल, स्ववशता खो देने की ।।

मुझे पेट भर अन्न मिले, बस
यही चाह, अरमान यही है।
मुरझाई दुनियाँ लहराये,
बस विशुद्ध बलिदान यही है॥

इसे भूल मत मानव! जग में,
परिवर्तन का चलता चक्कर।
जगती की हूँ अमर ज्योति मैं,
महानाश की सांस भयंकर॥

—६ अप्रैल १९४१

सफल
जी
व
न

★

जीवन सफल वही होता है।

उछल-उछल जो सर्वनाश की,
टक्कर पर टक्कर सहता है।
नंगी खड्ग धार की अपने,
सीने पर चोटें सहता है॥

चाह नहीं—परवाह नहीं-कुछ,
आह नहीं जिसके अन्तर में।
चाहे आफ़त-महाप्रलय के,
सौ तूफ़ान उठें क्षण भर में॥

टुकड़े हों बोटी बोटी के,
रोटी के पड़ जायें लाले।
कभी न लौटे निज मंज़िल से,
और न भिक्षा पात्र संभालें।

किसी देश-द्रोही के आगे,
अपना मस्तक जो न झुकाये।
किसी खून के प्यासे को जो,
कभी न अपना खून पिलाये॥

देख! देख!! गड्ढे का पानी,
सावन का बादल होता है।
जीवन सफल वही होता है॥

मुर्दा पड़ा हुआ हो घर में,
अगर क़फ़न को वस्त्र न पाये ।
संज्ञा–हीन देह को, कुत्तों–
कौवों का जो भोज्य बनाये ॥

घर में विप्लवकारी हाहाकारों–
—का अंबार लगा हो ।
चाहे चीत्कारों से उर में,
ज्वाला का संसार जगा हो ॥

चाहे भूख़ ! भूख !! चिल्लाता,
बच्चा तड़प तड़प–मर जाये ।
चाहे निज नारी के तन पर,
चिथड़ा–चिथड़ा हीं रह जाये ॥

माता–पिता पड़े रोते हों,
अरे ! मृत्यु शय्या पर चाहे ।
भरे न आंखों में जो आंसू,
और दर्द की ठंडी आहें ॥

सत्यानाशों के द्रष्यों से,
जो न कभी विचलित होता है।
जीवन सफल वही होता है॥

यौवन संपन्ना नारी को,
सजी सेज पर छोड़ चले जो।
कंचन–कलश चढ़े महलों से,
क्षण में नाता तोड़ चले जो॥

बोधि सत्व सी पलक उठाये,
मिमियाते मानव को देखे।
रोग–शोक अन्याय–भरे उस,
मुंह बाये दानव को देखे॥

घर घर में हड्डी के ढांचे,
उनपर थोड़ा मांस चढ़ा दे।
रक्त-हीन सूखी नस नस में,
जो थोड़ासा खून बहा दे॥

कंकालों की आह लिये जो,
आत्म–तेज की अग्नि लगादे।
सौ सौ सागर मन्थन करके,
नील कंठ को ज़हर पिलादे॥

हंसते हंसते जो फांसी पर,
निज सर्वस्व चढ़ा देता है।
जीवन सफल वही होता हैं॥

चाहे आग उदर में सुलगे,
चाहे तनपर मांस नहीं हो।
चाहे मिट्टी के पुतले में,
शेष एक ही सांस रही हो॥

वही सांस उनचास पवन सी,
व्योम और पृथ्वी को छा दे।
बारूदी कोठों-में क्षण में,
एक तीव्र विस्फोट जगादे॥

जनखे भी बेचैन हो उठें,
काली का खप्पर भरने को।
दौड़ चलें भूतों की टोली,
नया विश्व निर्मित करने को॥

प्राणों में बलिदान लिये जो,
मृत्यु-जयी अमरत्व जगाये।
हिला चलें नक्षत्र-लोक को,
और शेष का शीश हिलाये॥

जलता हुआ फ़लीता बनकर,
दुश्मन की दुनियां खोता है।
जीवन सफल वही होता है॥

—१० अगस्त १९४०

कवि के प्रति

कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छन्द जीवन ।

मत सुनाओ तुम मुझे अब,
बीत–युग के सरस सपने ।
मत सुनाओ तुम मुझे अब,
ये विरह के गीत अपने ॥

अश्रु-माला से सजाओ, अब नहीं तुम प्राण-लोचन ।
कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छन्द जीवन ॥

समुद सागर की तरंगों में,
– मचे उद्भ्रांत विप्लव ।
हो उठे आक्रांत अवनी,
ले व्यथा-अंबार अभिनव ॥

प्रलय-लोचन खोल भूधर-वक्ष पर नाचें त्रिलोचन ।
कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छन्द जीवन ॥

स्वयं जगपति हों विकम्पित,
तज मनोरम शेष गोदी ।
रोग, शोक-विभीषिका से,
द्रवित हों जीवन प्रमोदी ॥

जल उठे अंगार जल में, विश्व का हो सृजन नूतन ।
कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छंद जीवन ॥

पद-दलित, शोषित मनुज-दल,
जो बना जर्जर-भिखारी ।
फेंक भिक्षा-पात्र दे निज,
मुक्ति लाये क्रांतिकारी ॥

ये तड़ातड़ टूट जायें, दासता के जटिल बन्धन ।
कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छंद जीवन ॥

हो उठे ज्वालामुखी-सा तप्त,
हिमगिरि का हिमाञ्चल ।
आग की लपटें बिछा दे,
व्योम–जग में इन्दु चंचल ॥

उल्लसित तारावली–सा, प्रज्वलित हो क्षीण जीवन ।
कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छन्द जीवन ॥

ले मृदुल मधुहास कलिका,
झूमती उन्मत्त डाली ।
किन्तु यह स्वातंत्र्य उसका,
छीनता हा ! निठुर माली ॥

कर उठे विद्रोह माली से कली का भ्रांत यौवन ।
कवि सुनाओ ! तान ऐसी, आज हो स्वच्छंद जीवन ॥

है विवशता ही विवशता,
लुट रहे घर–बार जिनके ।
टिमटिमाते जल रहे हैं,
आज जीवन–दीप जिनके ॥

क्षीण काया श्रमिक–कृषकों की मचाये सृष्टि-कंपन ।
कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छंद जीवन ॥

कवि ! बनो तुम सजल सावन,
सुधा वसुधा में बहाओ ।
देश–द्रोही, कायरों के प्राण–
—कण–कण में समाओ ॥

वीर-रस के तुम बनो अवतार मेरे तरणतारण ।
कवि ! सुनाओ तान ऐसी, आज हो स्वच्छंद जीवन ॥

—४ अक्टूबर १९३९

वि-द्रो-ही-

मैं अशांत द्रोही युग युग का,
नूतन युग का मैं निर्माता ।
अविच्छिन्न है महानाशके,
संसारों से मेरा नाता ॥

अविश्रांत मैं मृत्यु–जयीसा,
क़ब्रों से उठ उठ कर आता।
नंगी क्रूर व्यवस्थाओं पर,
घटा टोप–सा मैं छा जाता॥

हैं अगणित उत्थान पतन के,
धुआंधार रक्ताभ दृगों में।
सृजन और संहार डोलते,
मेरे चिर उन्मुक्त पदों में॥

पवन–जयी मेरी श्वासों से,
सत्यानाशों की आंधी से।
हैं दहाड़ते मही फाड़ते,
वीराग्रणी बुद्ध-गांधी-से॥

मेरे पद चिन्हों पर चलतीं,
वेगवती सारी संस्कृतियां।
जड़-जंगम की आत्म प्रेरणा,
गौरवमयी विगत संस्मृतियां॥

चक्रित वसुधा में छा जातीं,
सुन ज्वलन्त मेरी हुँकारें।
लाखों लक्ष्मीबाई जैसी,
क्रुद्ध सर्पिणी की फुङ्कारें ॥

तरुण हिमालय की उद्ग्रीवा.
करती है नभ का विच्छेदन।
मेरे ही इङ्गित से हिलता,
भस्म - भार - पूरित रुद्रासन ॥

आहुतियों का अग्नि-पुंज मैं,
हूँ ज्वलन्त इतिहास जगत का।
वीर भद्र मेरे प्राणों में,
संरक्षण हैं शरणागत का ॥

ज्वालामुखी भभक उठते हैं,
सुन मेरी विस्फोटक वाणी।
जाग उठा करती क्लीवों में,
पौरुष की लहरें कल्याणी ॥

उथल पुथल मच जाती,
मेरे रणोन्मत्त संबल कामों से।
अरे! असम्भव बिना विजय के,
लौट पड़ूँ मैं संग्रामों से ॥

मौन वर्तुलाकार क्षितिज पर,
जहां चूमती नभ को पृथ्वी।
रंगती है जिसके वक्षों को,
मायावी किरणों की मस्ती ॥

प्रकृति के रंगीन विलासों—
में अशान्ति की आग सुलगती।
द्रोहवती जब मेरी आत्मा;
धांय धांय अंगार उगलतीं ॥

—८ जनवरी १९४०

देख सको तो मानव ! देखो

★

क्या क्या दिखला दूँ मैं तुमको,
देख सको तो मानव ! देखो ।

अत्याचार दमन जुल्मों के
लक्ष लक्ष घावों को देखो ।
आज बिवाई फटे हुए उन,
कटे हुए पांवों को देखो ॥

NATIONAL ARCHIVES LIBRARY
No. 890
Date 24.12.71
GOVT. OF INDIA

लोहे के करघों पर लटकीं,
क्षीण तड़पती लाशें देखो।
खेतों की मिट्टी से उठतीं,
कंकालों की आहें देखो॥

दो दो दिन के भूखे प्यासे,
मानव की कृष काया देखो।
टूटे आंसू के टुकड़ों में,
फूटे दिल की छाया देखो॥

फटे हुये चिथड़ों में लिपटीं,
आज सलज्जा नारी देखो।
झुकी हुई ग्रीवा के आगे,
क्रूर बधिक की आरी देखो॥

जली हुई उजड़ी बस्ती में,
उन्नति और पराभव देखो।
क्या क्या दिखला दूँ मैं तुमको,
देख सको तो मानव देखो॥

शोषक-दल के, श्रीमानों के,
खून सने दांतों को देखो।
क्रूर भेड़ियों से मानव की,
खींच रहे आंतों को देखो॥

कुत्तों-से बेमौत मर रहे,
उन अनाथ बच्चों को देखो।
लाज लुटी जाती चिल्लाती,
निराश्रिता नारी को देखो॥

पूंजी के उत्तप्त नशे की,
लाल लाल आंखों को देखो।
और किसी मज़लूम हृदय की,
अरे! तड़पती करुणा देखो॥

हाहाकारों-चीत्कारों की,
महानाश सी ज्वाला देखो।
देशी क्रूर नरेशों का भी,
तना हुआ है भाला देखो॥

विश्व मृत्यु की महाध्यास का,
बना हुवा है आसव देखो।
क्या क्या दिखला दूं मैं तुम को,
देख सको तो मानव देखो॥

ठोकर खाते हुए भिखारी–
–के प्राणों की पीड़ा देखो।
महलों के रस–रंग–विलासों,
आरामों की क्रीड़ा देखो॥

मन्दिर के घंटों की ध्वनि में,
धर्म लुप्त होता है देखो।
उच्च कंगूरों पर मस्ज़िद के,
तलवारों का तांता देखो॥

गोरी रमणी के चरणों को,
चाट रहे भूपों को देखो।
त्राहि ! त्राहि !! करती उत्पीड़ित,
चूसी हुई प्रजा को देखो॥

अधिकारों की दृढ़ ओटों में,
चोट–भरे हथकण्डे देखो !
निरपराध नर पर पशुओं-से,
आज बरसते डण्डे देखो ॥

अरे खून के प्यासे जग में,
बढ़े जा रहे दानव देखो
क्या क्या दिखला दूं मैं तुमको,
देख सको तो मानव देखो ॥

—४ मार्च १९४०

निर्झर

चूम चूम कर मेघावलियां,
कितना मीठा प्यार लिये ।
चलकर कांटों का पथ किसके,
अरमानों का भार लिये ॥

बीहड़ बन की पगडंडी में,
किस सुहाग का राग लिये ।
सूने अन्तरतम में भीषण,
पागलपन की आग लिये ।

सूनी दुनियां के दीवाने,
दीवानों के मस्त फ़कीर ।
भस्म-भार कह अपनेपन को,
सहते हो पथरीले तीर ॥

दोनों पलकों की छाया में,
नीलम की दोनों प्याली ।
ढाल प्रणय की रूप राशि में,
रस-मय प्यारों की डाली ॥

चलें कहां उन्माद लुटाने,
ले अंगूरी मद साक़ी ।
मैख़ाने की चहल पहल में,
प्यासे हैं कितने बाक़ी ॥

मद की नाव बनाकर ले चल,
ऐ नाविक ! मुझ पागल को ।
जहां कसक–संसार बसा हो,
धो पर-पीड़न काजल को ॥

ना जाने किस पैमाने पर,
प्रतिपल जीवन-घड़ियों को ।
पिस पिस कर कंकर–पत्थर में,
सुख-दुख की दो लड़ियों को ॥

–सुलझा दोनों डग भरते हो,
सत्वर पथिकों से अपने ।
गिन गिन बांध लिये जाये हो,
जगती के झूठे सपने ॥

—२४ जुलाई १९३५

क्रांति–दूत

★

क्रांति-दूत बनकर आया हूँ,
मैं तूफ़ान लिए आया हूँ ।
इस विनाश के अन्ध-गर्त में, मैं प्रकाश लेकर आया हूँ ॥

अर्द्ध बुभूक्षित नर नारी की,
पड़ी हुई लाशों पर लाशें ।
भस्मसात् हो धूलि-कणों में, उड़ती उनकी कोमल आशें ॥

लहू अरे ! तन का चूसा है,
इन धनवाले मक्कारों ने ।
तन की खाल अरे ! खींची है, इन क़ानूनी तलवारों ने ॥

रोते और सिसकते मानव–
–के आगे हा ! मौत खड़ी है ।
चारों ओर ज़हर की प्याली, पिये हुए संगीन खड़ी हैं ।

बिना दिखे जो धधक रही है,
मैं उसको अंगार कहूं क्या ?
मनुज मनुज का गला दबाये, मैं उसको संसार कहूं क्या ?

पीड़ित–मुरझाये मानव की,
आशा लेकर मैं आया हूं ।
मैं तूफ़ान लिये आया हूं, क्रांति–दूत बनकर आया हूं ॥

हाय ! हाय !! बस त्राहि ! त्राहि !! का,
मचा हुआ चीत्कार यहां है ।
रोदनमयी धंसी आंखों में, आंसू का व्यापार यहां है ॥

अर्द्ध-नग्न रोती है नारी,
बच्चे तड़प रहे हैं भूखे ।
नहीं उदर आग बुझाने, —को पाते हैं टुकड़े सूखे ॥

हाड़-मांस की परछाईं-सी,
घर घर में हा ! घूम रही हैं ।
सांझ सबेरे महाकाल की, पहुनाई को झूम रही हैं ॥

मातृ-गोद से छीना जाता,
हा ! बच्चों का प्यार यहां है ।
रोते हुए नरों पर लटकी, पैशाचिक तलवार यहां है ॥

काले दिल वाली दुनियां पर,
आज गाज बनकर छाया हूँ ।
मैं संग्राम लिए आया हूँ, क्रांति-दूत बनकर आया हूँ ॥

अपना हुआ पराया अब तो,
अपनी बस्ती उजड़ चली है ।
अपनी लाठी अपने सिर पर, आज बरसने को मचली है ॥

रोग–ग्रस्त पीड़ित मानव के,
दूभर हैं हा ! जीवन के क्षण।
सोने–चांदी का भूखा जग, कौन करे हा ! उसका रक्षण ॥

दम्भ, झूठ, ईर्षा, चोरी के,
मचे हुए षड्यन्त्र यहां हैं ।
अविश्वास – विश्वासघात ही, श्रीमानों के मन्त्र यहां हैं ॥

ये मज़दूर–किसान खड़े हैं,
आज बने बलिदानी बकरे ।
जिनके बल पर राजों–पूँजी-पतियों के हैं कोष भरे ॥

आज झोपड़ी का वासी मैं,
महल ढहाने को आया हूँ ।
साम्यभाव लेकर आया हूँ – क्रांति-दूत बनकर आया हूँ ॥

––१२ सितम्बर १९४०

आत्म-गीत

आत्मा अमर ज्योति निर्बंधन,
देहों में जिसका सूक्ष्म तत्व।
मानव में व्यापक मनुष्यत्व।
सर्वथा स्ववश जो मुक्तिसत्व।
संसृति अणु-अणु में परिव्याप्त,
जो चिर सुन्दर-जो चिर चेतन ॥
आत्मा अमर ज्योति निर्बंधन ॥

पाश-मुक्त को क्या मृत्यु-पाश ?
मृत्यु-जयी का कैसा विनाश ?

शत् शत् रवि का जिसमें प्रकाश।
स्वयं सुधा जो, अग्नि-पुंज जो—

तुझमें मानव ! तू निस्पन्दन ॥
आत्मा अमर ज्योति निर्बंधन ॥

आबिद्ध करें क्या लौह-शक्ति।
दानवता से जिसको विरक्ति।

सत्य-शिवोमय नरता से रक्ति।
युग-युग वैषम्य मिटाता चल,

करता चल समता संस्थापन ॥
आत्मा अमर ज्योति निर्बंधन ॥

—२ मार्च १९४१

आह्वान

जाग जाग ओ भूखी - नंगी,
उत्पीड़ित मानव की टोली ।
सेनानी ललकार रहा है,
प्रलयंकर ने आंखे खोलीं ॥

तेरी उष्ण श्वास से निर्मित,
वह विषाक्त बम फूट पड़ा है ।
तेरी चिर-संचित आहों के,
शोलों का तूफ़ान खड़ा है ॥

रण-स्थली हुंकार रही हैं,
सोता सिंह दहाड़ रहा है।
तब सर्वस्व निगल जाने को,
महाकाल मुख फाड़ रहा है।

बनकर आंधी और बवन्डर,
जीवन का अभिशाप मिटा दे।
आज गुलामी का पृथ्वी के,
महा वज्र से पाप मिटा दे॥

शिवि-दधीचि की मची पुकारें,
मां के बलिदानी मंदिर से।
शोषण युग को लात मार दे,
और सांस ले गहरी फिर से॥

कर दे कायाकल्प विश्व का,
बन जा तू गांधी की बोली।
जाग जाग ओ! भूखी नंगी,
उत्पीड़ित मानव की टोली॥

क्रोधित व्याकुल विषधर जैसा,
बिल से निकल लक्ष्य पर चल दे।
बजा रहा है बीन संपेरा,
तरल तरल तू गरल उगल दे॥

जड़ता के जड़ बन्धन बांधे,
बीत चुके कितने संवत्सर।
परिवर्तन की श्वासें लेकर,
चाल बदल दे अपनी मंथर॥

तज दे जलती हुई झोपड़ी,
बिदा मांग ले तन्वंगी से।
विद्रुत रण–आह्वान हो रहा,
कह दे निज साथी–संगी से॥

मां के लाल, लाल चरणों में,
शीश झुका आशीश मांगले।
मातृभूमि की चिर विमुक्ति का,
आज विजय वरदान मांग ले॥

तोड़ तोड़ जिह्वा के ताले,
खेल खेल पशुबल से होली।
जाग जाग ओ भूखी नंगी,
उत्पीड़ित मानव की टोली॥

—१५ सितम्बर १९४०

सत्याग्रही

मैं प्रबल सत्याग्रही हूं,
मृत्यु - पति भी चिर निरंतर,
चूमता मेरे चरण द्वय ।
है भरा विष - प्यालियों में,
अमरता का कोष अक्षय ॥

वह्नि–व्यापक लाल पथ का,
मैं सुदृढ़ हूं एक राही ।
क्रांति–लय भूडोल, मम, पद–
चिन्ह पर चलने सदा ही ॥

मैं किसी पशु बल भरे,
अन्याय का प्यासा नहीं हूं ।
मैं प्रबल सत्याग्रही हूं ॥

सत्य, मेरा सफल जीवन,
सत्य मेरी कामना है ।
सत्य है ध्रुव ध्येय मेरा.
सत्य मेरी साधना है ॥

मैं असत का हूं विरोधी,
असत का अस्तित्व अस्थिर ।
तेज हूं, हिम—शीश हूं–
–ज्वालामुखी हूं, मुक्ति हूं–चिर ॥

त्राण पाने के लिए, असि,
का विफल खोजी नहीं हूं ।
मैं प्रबल सत्याग्रही हूं ॥

मनुज हूं मैं, मनुज की हित–
—साधना मेरी तपस्या ।
बलि चढ़ूं मैं, शीश दे दूं,
निम्न यह जीवन–समस्या ॥

है नहीं मुझको दिशा–भ्रम,
हूं नहीं उन्मत्त कोई ।
स्वयं जागृत, हूं जगाता,
मनुजता मृत प्राय सोई ॥

श्मशानों में पडी मैं,
राख की ढेरी नहीं हूं ।
मैं प्रबल सत्याग्रही हूं ॥

—१२ दिसम्बर १९४०

पर मुझे मत भूल जाना !

पर मुझे मत भूल जाना !

शुभ्र ज्योत्स्ना और घी के–
दीपकों से भरी नगरी ।
मनुजता चिर शांति जिसमें,
साम्य के हैं मौन प्रहरी ॥

वे दिखाई दे रहे हैं,
शहीदों के पूज्य द्वारे ।
क्या खड़े तुम सोचते हो,
रुक हिमाचल के किनारे ॥

समय कहता है कि तुमको,
है त्रिलोचन को जगाना ।
इस हिमालय को हिलाकर—
नींव है तुमको गिराना ॥
पर मुझे मत भूल जाना !!

मनुज रोना चाहता है,
किन्तु रो सकता नहीं है ।
मनुज सोना चाहता है,
किन्तु सो सकता नहीं है ॥

छिन्न उर-तल की विकलता,
भी दिखा सकता नहीं है ।
स्वयं मरना चाहता है,
किन्तु मर सकता नहीं है ॥

भार जीवन है जिसे पर,
मृत्यु भी है भार जिसको ।
उस मनुज के प्राण रखना,
विश्व का रोदन मिटाना ॥
पर मुझे मत भूल जाना ॥

रात्रि का ठंडा प्रहर भी,
नाग – जैसा डस रहा है।
घास का संकीर्ण घर भी,
मृत्यु – जैसा हँस रहा है॥

छिन गया है चैन महलों–
—में हवेली में नहीं है।
छिन गया है प्रेम ईर्षा–
द्वेष है अब तो सब कहीं है॥

जुल्म की तलवार को तुम,
तोड़ चकनाचूर करना।
युग युगों से लड़ रहे—
संसार को फिरसे मिलाना॥
पर मुझे मत भूल जाना॥

डेढ़ सौ संवत्सरों का,
देश से दासत्व भागे।
मोह–निद्रा में पड़ी इस,
देह में वीरत्व जागे॥

मुर्दनी छाई हुई निस्तेज—
—पीले पात जैसी ।
ढल रहीं क्षण क्षण जवानी,
थरथराती वात जैसी ॥

तुम जवाहर-से युवक,
अंगार लेकर भेज देना ।
तीन बल खाते हुओं को—
क्रांति के सैनिक बनाना ॥
पर मुझे मत भूल जाना ॥

क्या पड़ी उस राम को,
रहमान की मसज़िद गिरायें ।
क्या पड़ी रहमान को जो,
राम का मंदिर ढहाये

देखना चाहो अगर तो,
राम मसज़िद में मिलेगा ।
देखना चाहो अगर रहमान—
—मन्दिर में मिलेगा ॥

संगठन का शंख फूँकें,
पुनः हिन्दू और मुस्लिम ।
फूट की नाशक लपट से,
देश भारत को बचाना ॥
पर मुझे मत भूल जाना ॥

एक बैठा है महल में,
सरस भोजन कर रहा है ।
एक बैठा द्वार जूठी,
पत्तलों को तक रहा है ॥

हाय ! जूठी पत्तलें भी,
हैं नहीं होतीं मयस्सर ।
भूख से है बिलबिलाता,
लोचनों में नीर भर भर ॥

सिसकियां भरता हुआ,
जीवित चिता पर जल रहा है ।
स्वयं तन का मांस देकर—
भूख तुम उसकी बुझाना ॥
पर मुझे मत भूल जाना ॥

प्रलय-पलकें खोल, अंगों,
-में भुजंगों को लपेटें ।
जाग उट्ठे, नाच उट्ठे,
ले त्रिशूलों के झपेटे ॥

रक्त की प्यासी शिवा,
खप्पर लिए धरती कँपा दे ।
शीश पर गंगा धरे,
नंगा महा ताण्डव मचा दे ॥

रुद्र के नीलें गले में,
तुम पिन्हाना मुण्ड-माला ।
शीश की उस मालिका में,
शीश अपना भी मिलाना ॥
पर मुझे मत भूल जाना ॥

मरघटों की धूल जागे,
शिव-शिवा का सुन निमन्त्रण ।
योगिनी किलकार उट्ठें,
सिहर उट्ठें शैल-कण कण ॥

नाद डमरू का मचलता,
तोड़ दें हिमखंड सारे ।
हो उठे आसान मंज़िल,
टूट जायें लोह—द्वारे ।।

स्वयं जगपति मार्ग रोके—
छीन लेना तुम सुदर्शन ।
तीर जैसे सनसनाते—

लक्ष्य पर तुम पहुँच जाना ।।
पर मुझे मत भूल जाना ।।

वीर हिन्दुस्तानियों का,
रक्त, अंगारे उगल दे ।
और युग ज्वालामुखी—सा,
एकदम करवट बदल दे ।।

सत्य की तलवार लेकर,
अहिंसा के गीत भर दे ।
और मूली की तरह, जड़—
—मृत्यु पाशों को कतर दे ।।

ये तिरंगा डोल उट्ठे,
विजय का उन्माद लेकर ।
मृत्यु को तुम जीत लेना,

आरती इसकी सजाना ।।
पर मुझे मत भूल जाना ।।

—४ अगस्त १९४०

गीत—

धीरे धीरे ढल रही रात ।

हरिजन की टूटी कुटीर,
जो कि ग्राम्य के पूर्व तीर
जिस पर प्राची वक्ष चीर
ढलती रवि-रोली अबीर ।
कुक्कुट कुकड़ूं-कूं उठा बोल
ग्राम-वधू झट उठी जाग ।
हुआ चाहता नव प्रभात ॥
धीरे धीरे ढल रही रात ॥

श्यामा चिड़िया पंख खोल
वृंत-वृंत पर रही डोल।
राधा–कृष्णा रही बोल।
वधू खोल दृग, मींच खोल
रही मांग अंचल पसार
प्रभु रहे अचल मेरा सुहाग।
पुलकित जिसका कृष्ण गात–
धीरे धीरे ढल रही रात।

दो–चार वधू हिलमिल कर।
चक्की चला रहीं घर घर।
गुञ्जित अमल पिकी-सा वर,
बीच बीच में मीठा स्वर।
मधुर प्रभाती सुन तरु-तरु पर,
खग-कुल-कलरव उठा जाग
मुखरित करता पात पात॥
धीरे धीरे ढल रही रात॥

हो चली रात्रि की शांति भंग।
संसृति में मादक उमंग ॥
गो-दोहन का स्वर अभंग।
त्रेता—द्वापर-सा प्रसंग।
सच्ची समता सच्ची क्षमता,
वैभव का सच्चा विराग,
लिये, हुआ नूतन प्रभात ॥
धीरे धीरे ढल गई रात ॥

—५ मार्च १९४१

शक्ति

शक्ति हूं मैं ।

चिर सचेतन सत्य-शिव हूं,
लय-सृजन की स्वामिनी हूं ।
वीर के रक्ताभ दृग की,
वह्नि हूं, सौदामिनी हूं ॥

सो रही हो राख की ढेरी,
पड़ी मरघट—किनारे ।
ढालती शत शत सुधा-कण,
कंटकी—पथ—गामिनी हूं ॥

मृत मनुज में सबल शाश्वत,
प्राण की संचारिका हूं ।
मृत्यु-पति के कठिन पाशों—
की प्रबल तम द्वारिका हूं ॥

अरे! निर्बल, कौन? मानव?
एक थोथी कल्पना है ।
अग्नि-विष-पी अमर मानव,
और मैं अभिसारिका हूं ॥

मैं निराशा के सघन घन,
चीरती विद्युत—किरण हूं ।
मान हूं ध्रुव, ध्येय हूं ध्रुव,
शिवा हूं, प्रणवीर—प्रण हूं ॥

मैं विजय हूं, देख जिसको,
थरथराती गोल धरणी ।
जगत की आराध्य हूं मैं,
मुक्ति हूं चिर सुखद क्षण हूं ॥

शक्ति हूं मैं ॥

—१५ दिसम्बर १९४०

ठहर! ठहर!! अंगारों वाले!!!
किस प्रवाह में तू बहता है?

★

तरल तरल पी विष के प्याले,
आज अमर होता जाता हूँ।
अरमानों का स्यंदन साजे,
मैं निर्द्वन्द्व बढ़ा जाता हूँ॥

किसी चिता पर चिटक चिटक कर,
जल जल कर जीवन पाता हूँ।
फोड़ गुलामी का कच्चा घट,
निर्बंधन होता जाता हूँ॥

आज करोड़ों भूखों–नंगों –
–आहों का शोला बनकर ।
दिग् दिगन्त में व्याप्त हो चला,
सत्यानाशी गोला बनकर ॥

टूटी झोपड़ियों से आतुर,
धूल – सने लाखों दीवाने ।
चूर – चूर कर गौरीशंकर,
भूतनाथ को चले जगाने ॥

लिये अखिल बन्धुत्व विश्व का,
सेनानी मुझसे कहता है ।
ठहर ! ठहर !! अंगारों वाले,
किस प्रवाह में तू बहता है ?

आज समझता हूं मैं तेरी,
नस नस में तूफ़ान भरा है ।
और हृदय में मातृ भूमि का,
चिर अभेद्य सम्मान भरा है ॥

मूर्त रूप जुल्मों का तेरी,
आंखों में उन्माद भरा है ।
भारतीय आत्मा में तेरी,
केहरियों सा नाद भरा है ॥

ओ ज्वलंत ! ओ मेरे सैनिक !!
ओ प्रिय रक्तिम आंखों वाले !!!
ओ मेरे साधन के प्रतिफल !
विद्रोही कहलाने वाले !!

निज यौवन की महा शक्तियां,
आवेशों में मत बहने दे ।
आज व्यग्रता भरा हुआ,
अभिमानी जीवन मत रहने दे ॥

शोध वीर तू अपनी आत्मा,
आज स्वयं विश्वात्मा बन कर ।
जिसमें से दैवत्व प्रकाशित,
होता है प्रतिक्षण छन छन कर ॥

मेरे इंगित पर चलता चल,
ओ मेरे प्रणवीर सिपाही ।
मनुष्यत्व - दैवत्व जगाले,
मार्ग शुद्ध कर अपना राही ॥

दुश्मन के ये मक्कारी से,
भरे हुए गढ़ टूट चलेंगे ।
क्षण भर में तेरे चरणों में,
सम्राटों के शीश झुकेंगे ॥

१२ जून १९४०

मज़दूर

जिसके रक्त–दान से निर्मित,
नील–व्योम–चुम्बित मीनारें ।
मानवपन की अस्थि अस्थि से,
चुनीं गईं जिनकी दीवारें ॥

शुष्क शुष्क आंतों से उठते,
पावक के रक्तिम अंगारे ।
क्षुधा–तृषा से पीड़ित, धोता,
दृग–जल से महलों के द्वारे ॥

कड़ी जेठ की दोपहरी में,
लिये शीश पर तपता अंबर ।
तिल तिल निज अपनत्व मिटाकर,
जग को जीवन देता सत्वर ॥

रिक्त–कोष भरता धनिकों के,
रत्न–राशि के अथक निरंतर ।
जलन, व्यथा, पीड़न, बेचैनी-
-परिव्याप्त जिसका स्वर मंथर ॥

देह फटे चिथड़ों में लिपटी,
काली काली मट मैली सी ।
चिर पवित्र जिसमें बसती है,
प्रभा मयी नरता फैलीसी ॥

अंतरिक्ष में खिले कुसुमसी,
सुख को पाने की अभिलाषा।
दुख ही दुख में घुटती जाती,
प्रतिपल जिसकी जीवन—श्वासा ॥

जिसके कण कण मिट्टी से ही,
अखिल सृष्टि का नव संस्थापन।
अधः पतन से उन्नति-पथ पर,
ले जाना जिसका चिर साधन ॥

कौन चाहता जीवन-स्वर में,
करुणा क्रंदन या उत्पीड़न।
अरे! विवश हो करता मानव,
कीड़ों-सा जीवन-भार बहन ॥

जब जब नर के द्वारा होता,
जग में नर का अतिशय शोषण।
तब तब क्रांति—अग्नि—लपटों से,
जल जल जगती बनती नूतन ॥

भूखे नर की बेचैनी को,
देख स्वयं तू भूखा रह कर ।
तभी समझ पायेगा नर का,
उत्पीड़न से भरा हुआ स्वर ॥

यद्यपि वह मज़दूर मनुज है !
क्या उसमें मन-प्राण नहीं है ?
क्या सुख पर अधिकार नहीं क्या,
अरे ! नरत्व-विधान नहीं है ?

उग्र तपस्वी इस चिर-दानी,
नर को नर पहचान सका क्या ?
तोष पूर्ण उच्छ्वास, दृगों की,
मूर्छित भाषा जान सका क्या ?

—२० जून १९४१

हृदय-वीणा

आज मेरी हृदय वीणा के,
—रसीले तार बोले।
है कहां बंदी बता वह पवन,
जिससे प्राण पलता ?
वह जवानी—सा कहां—
—गति शील चढ़ता और ढलता ?

अटल प्रकृति का नियम,
स्वाधीनता—स्वाधीनता है।
क्यों न तू स्वाधीन हो,
स्वाधीनता का द्वार खोले ?

क्या न दृग में घूमते हैं,
अमर सतयुग और द्वापर ?
कौन काली मौन छायासी,
खड़ी है आज सिर पर ?

देख जिसको तू अन्धेरी,
रात में निज मार्ग भूला ।
क्यों न तू अपने करों से,
आज पथ अपना टटोले ?

क्या नहीं तुझको कभी उस,
भगतसिंह की याद आती ?
याद जिसकी दुखी मां के,
घाव पर मरहम लगाती ।

क्या कभी तू सोचता है,
इस तरह बलिदान होना ?
क्यों न तू विद्रोह की,
हुंकार भर स्वाधीन डोले ?

अरे ! जीकर ही मिला क्या ?
पूछ इन जीवित नरों से ।
अरे ! मरकर हीं मिला क्या ?
पूछ उन लाखों मरों से ॥

मरण में है भरा जीवन,
भगतसिंह ने इसे जाना ।
क्यों न तू फिर आज मरकर,
शहीदों सा अमर होले ?

जुल्म की तलवार—फांसी,
रक्त—प्यासी हो रही हैं ।
जड़ बनी काया सचेतन,
देख – सुन भी सो रही हैं ।

कंठ में फांसी पहिन,
तलवार को दे शीश अपना ।
क्यों न चाहे विश्व का फिर,
सृजन या अवसान हो ले ।

रुधिर तेरा हिम बना है,
खिंच रहे हैं केश मां के।
क्यों नहीं मां के अरे–
दुख–दर्द तूने हाय! आंके?

कर रहा तू चन्द्रशेखर,
या भगतसिंह की प्रतीक्षा?
क्यों न रे! तू ही स्वयं,
आज़ाद या बरबाद हो ले?

आज मेरी हृदय वीणा के,
रसीले तार बोले॥

—१४ नवम्बर १९४०

अपने पथ पर तू बढ़ता चल।

ओ जर्जर ! ओ शोषित मानव,
अपने पथ पर तू बढ़ता चल ।

वाणी में ले संबल दृढ़ता,
युग युग का उन्मत्त सन्देशा ।
आक्रांता हों भयाक्रांत, तू–
–क्रांति-गान गाता चल ऐसा ॥

नित्य नई दुनियां बसती है,
बनती हैं संस्कृतियां नूतन ।
नूतनता के ओ चिरदानी,
रंगताचल तू भू का कण-कण ॥

अरे भाग्य है कौन वस्तु ? जो,-
—अकर्मण्य तू बनता मानव ।
कर्मवीर बन कुचल भाग्य को,
करता चल तूफ़ानी उद्भव ॥

धरणी धर के शत शत फण पर,
चरण-चिन्ह अंकित करता चल ।
ओ जर्जर ! ओ शोषित मानव,
अपने पथ पर तू बढ़ता चल ॥

क्यों हो वाणी में कातरता,
अधरों पर मालिन्य उदासी ।
क्यों हो तेरे उर में कंपन,
उजड़ी दुनियां के आवासी ॥

सत्वर तेरें परिचालन से,
धरणी बोले चरमर—चरमर ।
गले लगाता चल लपटों को,
मंद हास तेरे अधरों पर ॥

रोदन करती मानवता का,
ज्वलन शील तू ही अवलम्बन ।
सामाधिस्थ ओ प्रिय शिव-शंकर,
भस्म बनाता चल संवेदन ॥

करवट ले ले कर मरघट से,
घट घट में जीवन भरता चल ।
ओ जर्जर ! ओ शोषित मानव,
अपने पथ पर तू बढ़ता चल ॥

भूखे नंगे ओ युग-सृष्टा !
तुझमें महाक्रांति—आवाहन ।
सांस सांस में युग-परिवर्तन,
प्राणों में नूतन आवर्तन ॥

कर्म निरत ओ सुदृढ़ प्राण !
नित नई कहानी तू लिखता चल ।
मिटा राक्षसी प्यास, विश्व में,
नई जवानी तू भरता चल ॥

ओ ज्वालामय तुझे देख कर,
कटे हुए मस्तक जुड़ जायें ।
ले ले ललकारें तूफ़ानी,
बलि वेदी पर चढ़चढ़ जायें ॥

मिटा प्रलय की अन्तिम रजनी,
सृजन-प्रभाती—स्वर भरता चल ।
ओ जर्जर । ओ शोषित मानव,
अपने पथ पर तू बढ़ता चल ॥

—१४ मई १९४१

नरपति से

★

नव युग का आमन्त्रण सुनले,
ओ विलास के क्षीण पुजारी ?

भूल गया पुरुषत्व अरे तू !
भूल गया अपनत्व अरे तू !
दिव्य तेज आर्य्योंका भूला, !
भूल गया वीरत्व अरे तू !

अरे स्वयम् को ओ धरणी-पति!
समझ रहा तू भू का स्वामी?
महा भयंकर भूल पत्तन की-
ओर जा रहा तू अज्ञानी !

नरपति होकर तू नर का ही,
अरे रक्त पीने को तत्पर ?
अपना शासन-चक्र चलाता,
नंगी तलवारों के बल पर ?

पीड़ित प्रजा पुकार रही हैं,
त्राहि! त्राहि! ओ मेरें राजन !
प्राणांतक क्षण में भी तेरा–
करतीं पिता तुल्य आवाहन।

सब सुनकर भी मौन अरे तू
कांप रही जर्जर मानवता।
ओ मदिरा के पीने वाले,
क्या विलास ही तेरी नरता?

राज महल में रहने वाले,
तूने देखे हैं नगर-नगर ?
ग्रामों को तूने देखा है,
जहां बने हैं मिट्टी के घर ?

उनमें रहते कौन ? कि
जिनका कीड़ों सा जीवन चलता है !
वे मानव, जिनके बल पर तू,
सोने-चांदी में तुलता है।

जिनकी एक-एक हड्डी पर
तेरे ऊंचे महल खड़े हैं।
जिनके रक्त-मांस के बलपर,
राज-मुकुट में रत्न जड़े हैं।

भूखे रहकर भी वे तेरा
राज-कोष भरते रहते हैं।
मरण-सेज पर पड़े हुए भी,
जुल्मों को सहते रहते हैं।

मां—बहिनों की इज्ज़त लुटते
तेरी आंखें देख रही हैं !
क्या तेरे उस खड्ग हस्त में
आज चूड़ियां खनक रही हैं ?

साम्राज्य वाद का दुर्ग ढहा
निर्माणकियानवयुगका जिसने।
चिर स्वराज्य के संस्थापनमें
निज बलिदान किया था जिसने ॥

जिसके हर-हर सिंहनाद से,
सोते दिग्गज डोल उठे थे।
एक लिंग की विजय-घोषले,
मां के बन्धन खोल उठे थे ॥

वही मराठा वीर शिवाजी,
वही प्रताप महा—प्रलयंकर।
अरे रक्त-कुंकुम से जिसका,
तिलकोत्सव होता था सुन्दर !

वीर बुंदेला छत्रसाल की
भूल गया तू अरे कहानी ?
जर्जर जरा देह ले जिसने
किया रुधिर—उत्सव तूफानी ॥

कुंठित—लुंठित मानवता की,
मातृभूमि की लाज बचाई ।
परवश पीड़ित प्राण-प्राण में
महाक्रांति की अग्नि जलाई ॥

ग्राम-ग्राम से, नगर-नगर से
निकल रहे हैं भूखों के शव !
तुझे घृणा उनकी मिट्टी से,
कैसे कहें तुझे हम मानव ?

अरे दुर्ग झांसी का जिसमें
भारत का अभिमान डोलता।
भानु-दीप्ति-सा शिलाखंड पर
लक्ष्मी का सम्मान डोलता ।

साक्षी है विन्ध्याचल जिसका
बोल रहा मालव का कण-कण।
खुल कर खेले अरे यहीं
साम्राज्यवाद के कट्टर दुश्मन॥

बीर सिंधिया और होलकर
रणस्थली था जिनका जीवन।
जिनके अश्व-टाप के स्वर से
जन-जन में भरता था यौवन॥

मां-बहिने घर-घर में जिनका
लिए आरती पूजन करतीं।
न्याय-धर्म-रक्षार्थ सदा ही
बिजय-हस्त जिनके सिर धरतीं॥

बता! बता! ओ वीर पुत्र! वे,
कहां गई तेरी तलवारें?
चूर्ण हुई वे कहां टूटकर!
हुई कहां मृत उनकी धारें?

देख जरा भुजदंड उठाकर
कितना बल-विक्रम है तुझमें।
एक बार फिर देख प्रजाको
ज्वालामुखी धधकता जिसमें।।

तुझे अरे ओ-सिंहपुत्र! उठ,
पीड़ित का सम्मान बुलाता।
वीर राष्ट् का मान बुलाता
भूखा हिन्दुस्तान बुलाता।

मां-बहिनों का त्राण बुलाता।
जचलउठ! राष्ट्र-निशानबुलाता।
जग का नव-निर्माण बुलाता
विद्रोही का गान बुलाता।।

रोग-शोक बंधी माता का
जिसको कुछभी ध्यान नहींहै।
जड़वत है वह जाति जिसे निज
पूर्वज पर अभिमान नहीं है।।

सुन पुकार तू पीड़ित युगकी,
युग तुझपर अभिमान करेगा।
और नहीं तो तुझे कुचल कर
युग तो अपना काम करेगा ॥

शीघ्र सम्हल तू, मेरे युग में, नहीं रहेंगे अत्याचारी।
नवयुग का आमंत्रण सुनले, ओ विलास के क्षीण पुजारी ॥

★

गांधी की आंधी

★

गांधी की जब आंधी आई ।
आंदोलन मच गया हृदय में,
तोड़ फोड़–फेंके जड़ बन्धन ।
मैं भारत का भारत मेरा,
स्वाभिमान मय मेरा जीवन ॥

जीवन का अभिशाप-पाप है,
जग गुलाम है कहता मुझको।
महाक्रांति की तरल तरंगें,
जीवन ज्योति जगाति आईं ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

भंग हुई चिर निद्रा मेरी,
तन्द्रा त्याग विश्व को देखा।
स्वर्गिक सुख में पलते देखा,
अपने घर को जलते देखा ॥

बंधी हुई कच्चे धागे से,
लटक रहीं सिर पर तलवारें।
भभक उठी अंगार हृदय की,
खारे अश्रु जलाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

बना अस्थि-कंकाल अरे मैं,
तरस रहा दाने-दाने को ।
भिखमंगा-मजलूम बना मैं,
आया क्या ठोकर खाने को ?

सूखी सरस कल्पना मेरी,
मधुर रसीली कविता सूखी ।
भस्म मयी आशाएं मेरी,
नूतन पंथ दिखाती आईं ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

हिंसा हुई पराजित व्याकुल,
आज आत्म बल मुझमें जागा ॥
अरे ! सृजाता इस पशुबल का,
वह विज्ञान हुआ हत भागा ॥

जिसके जी में जितना आया,
खूब सताया अब तक मुझको ।
आज अहिंसा मेरे तन में,
नव तूफ़ान उठाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

भेद चला मेरा स्वर कारा–
चूने–पत्थर की दीवारें ॥
खेल हुआ मेरे प्राणों को,
नंगी तलवारों की धारें ।

सत्य–अहिंसा–दया–प्रेम की,
क्रांति उठी मुझ मर्दाने में ।
करती द्वार–द्वार जनखों को,
परित्राण मम लाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

ओ हिन्दू कहलाने वाले,
निज विनाश की गहरी खाई ।
अपने हाथों निर्मित करता,
उर में महा क्रूरता छाई ॥

तेरी निष्ठुरता से कांपे,
अतल-वितल-पाताल-रसातल !
धंसक चली रे धरा महीसुर,
गुरु हड़कम्प मचाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

निद्य–निरंकुश अन्यायों में,
जीवन उन्हें काटते देखा।
द्वार–द्वार पर जूटे पत्ते,
मैंने उन्हें चाटते देखा ॥

शूद्र ! अछूत !! नीच !!! सम्बोधन,
से अपमानित होते देखा।
भीषण भल अरे सदियों की,
चिर विमुक्ति बरसाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

यह जग क्या है ? हम क्यों आये ?
जीवन की परिभाषा क्या है ?
आज समझ पाये वे मानव,
नव जीवन की श्वासा क्या है ?

रे समाज वे आज नहीं हैं,
सड़ते सड़ते मरने वाले।
वे स्वतन्त्र, रूढियां तेरी,
अपनी मृत्यु बुलाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

सदा समय की गति-विधियां हैं,
नियमों का निर्माण करातीं ।
जगती के नव निर्माणों से,
कोई शक्ति नहीं बच पाती ॥

परिवर्तन से भरा पड़ा है,
जल-थल-यह जड़-चेतन सारा ॥
व्यर्थ शूल तू बना हुआ रे,
जागृति उन्हें जगाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

हिन्दू-मुस्लिम भारत वासी,
भारत मां की रे ! जय बोलो ।
आज गले मिल जाओ दोनों,
अपनी अतुल शक्ति को तौलो ॥

व्यर्थ विरोधी भावों को रे,
चिर समाधि में तुम दफनाओ ।
संध्या मधुर मिलन है लाई ।
मंगल आज मनाती आई ॥
गांधी की जब आंधी आई ॥

मेरी आँखों के प्रकाश तुम,
मेरे प्राणों के प्रिय प्राण ।
मम जीवन के सुन्दर जीवन,
पदाक्रान्त जग के तुम त्राण ॥

मेरे युग के महा बुद्ध तुम,
हिंसा के तुम महा काल ।
चिर जीवो तुम मेरे मोहन,
हो उन्नत भारत का भाल ॥

२ अक्टूबर १९३९

तुलसी की वाणी

वसुधा-तल के अभ्यंतर में,
गूंज रही तुलसी की वाणी ॥

चिर प्रसुप्ति पर वह्नि-शिखा की,
नव जागृति छाती संसृति में ।
नरता के खर-किरण-जाल सी,
छाती दानवीय कृति-कृति में ॥

स्वार्थ भावना–जड़ता जग की,
एक निमिष में भस्म बनाती ।
शनैः शनैः उत्पीड़न–क्रंदन,
शोषण पर काली बन छाती ॥

अक्षर अक्षर में हैं लपटें,
अक्षर अक्षर महाक्रांति है ।
अक्षर अक्षर नई व्यवस्था,
अक्षर अक्षर महाशांति है ॥

विस्मृत कर भारत ने खोई,
अरे ! स्ववशता निज कल्याणी ।
वसुधा-तल के अभ्यंतर में,
गूंज रही तुलसी की वाणी ॥

चण्ड–चण्ड पाखण्ड–मेघ की,
खंड खंड करती अंधियारी ।
भानु–दीप्ति सी, वज्र–घोषसी,
सृजन–कोष भरती सुखकारी ॥

चन्द्रहास सी, नवोल्लास सी,
हरती भग्न-हृदय की पीड़ा।
क्षीण-विवश जीवन में भरती,
शीत-शरद-पूनों की क्रीड़ा॥

आदर्शों की पावन गंगा,
पितृ-भक्ति की कल कालिन्दी।
मातृ-मही के लास भरे, मधु,
—हास भरें माथे की बिन्दी॥

देख जिसे खुल जाती सहसा,
दास्य भरी मानव की वाणी।
वसुधा-तल के अभ्यंतर में,
गूंज रही तुलसी की वाणी॥

पृथ्वी वरण उसे करती—
-भुज दण्ड अरे जिसके बलशाली।
कंप मचे, रुद्रासन डोले,
सुनते ही जिसकी कर-ताली॥

एक हस्त की छांह तले—
—बिश्राम करें अन गिनती मानव।
और दूसरा हस्त खड्ग ले,
मिटा चले पृथ्वी के दानव ॥

ध्रुवादर्श यह उसी राम का,
क्यों न भरे युगयुग में यौवन ?
तुलसी के आराध्य देव उस,
कर्मवीर का शत शत वन्दन ॥

कर्मवीर बनने को इंगित,
करती है तुलसी की वाणी।
वसुधा तल के अभ्यंतर में,
गूंज रहीं तुलसी की वाणी ॥

२४ अगस्त १९४१

बलिदान

—★—

कांप उठे धरतीका कण कण
  डोल उठे ये अंबर सारा ।
    ज्वालागिरि के अंगारों–सा,
      छा जाये बलिदान हमारा ।।

इस नीले नक्षत्र–पंथ में,
  धुआंधार बनकर छा जायें ।
    भारत माता की पलकों के–
      आंसू ऐसी आग लगायें ।।

टूट टूट कर तारे जग में,
  आज़ादी की ज्योति जलायें ।
    झोपड़ियों के विप्लवकारी,
      आज वतन आज़ाद बनायें ।।

तड़ तड़ तड़ तड़ आज तड़ातड़,
तोड़ चलें ये जड़ जंज़ीरें ।
क्रूर मृत्यु की छाती पर चढ़,
सस्मित आज कलेजा चीरें ॥

रोती हुई अयोध्या को फिर,
गले लगाये राम हमारा ।
ज्वालागिरि के अंगारों–सा;
छा जाये बलिदान हमारा ॥

कफ़न लिये घर से निकले हैं,
हम आज़ादी के दीवानें ।
हैं मदहोश चढ़ाये प्याला,
एक रंगीली आग लगाने ॥

भिक्षा पात्र लिये हाथों में,
नहीं मांगने हम आये हैं ।
अपना खून चढ़ाकर अपनी,
थाती लेने हम आये हैं ॥

आज हमारी हड्डी–हड्डी,
चली तीव्र विद्रोह जगाने ।
कंचन–कलश चढ़ी लंका के,
क्रूर–दानवी महल ढहाने ॥

हंस हंस फांसी की रस्सी को,
हार बनाने हम आये हैं ।
मनुष्यत्व के आदर्शों की,
रक्षा करने हम आये हैं ॥

आज एक अरमान यही है,
मिले भरत–सा भाई प्यारा ।
ज्वालागिरि के अंगारों सा–
छा जाये बलिदान हमारा ॥

पंडित के पोथी–पत्रों का,
ध्वंस आज लेकर हम आयें ।
अनगिनती चूसी लाशों को,
अमृत–घट से भरने आये ॥

पापों से लबरेज़ धर्म का,
गला दबाने हम आये हैं ।
श्रेणी-भेद मिटा शबरी के,
बेर चबाने हम आये हैं ॥

आज पुकार रहे डंके की,
चोट लिए सीना फ़ौलादी ।
हम मतवाले मचल मचल कर,
आज लिए अपनी बरबादी ॥

तरुण लहू की बून्द बून्द में ।
घूम रहा है जलियांवाला ।
आज जगाने को आतुर है,
उस विराट यज्ञ की ज्वाला ॥

वीर लक्ष्मण की हुंकारों,
से हिल जाये सागर खारा ।
ज्वालागिरि के अंगारों सा,
छा जाये बलिदान हमारा ॥

अर्ध रात्रि की रंगरलियों से,
भरी विलासों की तय्यारी ॥
ठोकर मार कुसुम–शय्या को,
निकल पड़ीं ये घर से नारी ॥

मूर्ख, खिलौना समझ न इनको,
ये हैं क्रुद्ध सर्पिणी काली ।
सिंहासन थर्राने वाली ।
ये विशाक्त फुंकारों वाली ॥

लक्ष्मीबाई की भस्मी से,
लाखों लक्ष्मीबाई जागीं ।
चिर जौहर की चिता सजाये,
राजपूत बालाएं जागीं ॥

कायर–अकर्मण्य मुर्दों में,
मातृ–प्रेम भरने आई हैं ॥
निज सतीत्व के तप्त–तेज से,
भस्म सात् करने आई हैं ॥

आज सती सीता माता का,
पोंछे गीला अंचल सारा ।
ज्वालागिरि के अंगारों-सा,
छा जाये बलिदान हमारा ॥

दौड़ चली रेवा सतवन्ती,
पाषाणी दीवार ढहाती
वन्य प्रदेशों में पश्चिम के,
एक गज़ब का क़हर मचाती ॥

उत्तर हिमाचल से गंगा भी,
आज भरा अमृत-घट लाई ।
हम बलिदानी समर-सुतों को,
बारबांर जिलाने आई ॥

तय करना है अपनी मंज़िल,
एक लक्ष्य पर जाना हमको ।
मार्ग रुद्ध करने वालों की,
हस्ती आज मिटाना हमको ॥

निकल पड़े जब अपने घर से,
रुकना और लौटना क्या रे ?
सर्वनाश या पूर्ण विजय के,
रणस्थली से हटना क्या रे ?

चाह यही हनुमान सिन्धु को,
लांघे आज लिये अंगारा ।
ज्वालागिरि के अंगारों-सा,
छा जाये बलिदान हमारा ॥

समय पुकार रहा है हमको,
अपना सब सामान सजालें ।
मस्ज़िद में जाते मुस्लिम को,
आज हृदय से गले लगालें ।

बन्धु बन्धु सम्बध लिये हम,
आज चले संग्राम मचाने ।
बन गांधी-आज़ाद-जवाहर,
एक नया संसार बसाने ॥

जो मक्कार हमारे होकर,
दुश्मन के दल में मिल जायें।
आज उन्हें लानत है-थू-है,
जो माता का दूध लजायें॥

भीष्म–प्रतिज्ञा के लिये विश्व में,
महा क्रांति करने हम आये।
दे महा शक्ति आशीश हमें,
निज शीश चढ़ाने हम आये॥

आज हमारे बलिदानों से,
माता को कुछ मिले सहारा।
ज्वालागिरि के अंगारों–सा,
छा जाये बलिदान हमारा॥

—१५ जुलाई १९४०

उद्बोधन

जाग ! जाग !! तू प्यारे स्वदेश ।
खोलती हुई प्राची का द्वार,
नव मधु बरसाती हुई ।
अंबर विशाल,
रंगती हुई ।
देती हुई,
तम मय वसुधा को अलोक–दान ।
निसर्ग की करती हुई,
गोदी निहाल ।
अलोक मयी,
भरती हुई,
आई, रवि प्रभा, कुमारिका सी,
पलकों में जागृति का संदेश ।
जाग ! जाग !! तू स्वदेश ॥

करती हुई सतत साधना सी,
    विरही सी जलती हुई,

        अंगारों पर,
        मचलती हुई,
        सहती हुई,

लंबी रातों की व्यथा अपार ।
    स्नेह-सुधा पीती हुई,

        जल-धारों पर,
        नव-स्मित मयी,
        तिरती हुई,

कमल-कलियों ने दीं आँखें खोल,
लिए पंखुड़ियों में प्यार अशेष ।
जाग ! जाग !! तू प्यारे स्वदेश ॥

पिरोती हुईं सुमनों का हार,

भू पर इठलाती हुईं,

अस्फुट-कलियां,

खिलाती हुईं,

हरती हुईं,

पीड़ाएँ अलि के हृदय-तल की।

जागीं दृग धोती हुईं

रंग रेलियां

मचाती हुईं,

करती हुईं,

बाल-रवि की प्रेम मयी मनुहार,

तरु गुलाब की टहनियां अनिमेष।

जाग! जाग!! तू प्यारे स्वदेश॥

रंगती हुईं परों को तितलियां,
न्योछावर करती हुईं,

अपना शरीर
थिरकती हुईं,
घिरती हुईं

सुमनों के मधु-भरे कलशों पर।
स्वर्ग से उतरती हुईं,

गुलाल अबीर,
उड़ाती हुईं,
छाती हुईं

माधव-प्रमोद, रहीं भू पर डोल।
संतुलित शूलों में जिनका देश।
जाग! जाग!! तू प्यारे स्वदेश॥

विराम देता हुआ विहगों को,

शीत में ठिठुरता हुआ,

अग्नि-कणों में,

दहकता हुआ,

करता हुआ.

सफल विद्रोह निष्ठुर प्रकृति से।

सदियों से सोता हुआ

विपद्-क्षणों में,

उबलता हुआ

खुलता हुआ

बन्धनों से, हुआ जागृत विंध्य।

साजे विद्रोही सा क्रुद्ध वेश॥

जाग! जाग!! तू प्यारे स्वदेश॥

जकड़े हुए लौह-बन्धनों में,
सींकचों में पड़े हुए,

तुम पराधीन
कराहते हुए,
सड़ते हुए,

प्रिय ! मर रहे क्यों कुत्तों-जैसे ?
बजाओ ! तड़पते हुए

हृदय की बीन,
दौड़ते हुए
छेड़े हुए,

कालें नागों से फुंकार उठें ।
विक्रम-भोज तुम्हारे हरें क्लेश ।
जाग ! जाग !! तू प्यारे स्वदेश ॥

२० नवम्बर १९३९

जाग उठा यौवन अंगारा !

जाग उठा यौवन अंगारा
जड़ता–पाश और शोषण के,
तड़ तड़ तोड़ चला बंधन मैं ।
सस्मित सुन मेरा उद्घोषण,
चिर स्वतंत्र मैं–चिर विमुक्त मैं ॥

बालू के कच्चे पाये पर
अवलम्बित साम्राज्यवाद है ।
होगा पद–प्रहार से मेरे,
चूर चूर भू लुंठित सारा ।
जाग उठा यौवन अंगारा ॥

सुनकर जलियां वाला मेरी,
आज जली जाती है छाती।
प्रतिहिंसित यह रोम रोम है,
तेरा महानाश रे घाती!

ये तेरे प्रण—ये आश्वासन
कुटिल मकड़ियों के जाले से।
आज डुबा दूंगा जल—तल में,
कंपित होगा सागर खारा।
जाग उठा यौवन—अंगारा॥

अरे देश—द्रोही तू हट जा।
माता की छाती के छाले।
चाट चाट दुश्मन के तलवे,
अपनी प्यास बुझाने वाले!

मेरे क्रुद्ध—रुद्र—लोचन में,
महानाश सा झूल रहा है।
सावधान! तुझको कर देंगा,
चूर्ण—चूर्ण मेरा दृग—तारा॥
जाग उठा यौवन—अंगारा॥

मृत्युंजय वरदान लिये मैं,
रणस्थली में छा जाऊंगा ।
मरघट से भी उठ—उठकर मैं,
बार बार दौड़ा आऊंगा

व्याकुल होगा पटक पटक फण,
धरणीधर मम हुंकारों से ।
लय—क्रीड़ा स्थल बन जायेगा।
वसुंधरा——गर्भस्थल सारा ॥
जाग उठा यौवन अंगारा ॥

आज धनुर्धर मुझ में जागा,
रणोन्मत्त दुर्जय दीवाना ।
दुर्गम चक्रव्यूह रचनाएँ
भेद चलूंगा मैं मस्ताना ॥

सुन प्रचण्ड टंकार धनुष की,
खंड खंड होगा नभ—मंडल
नक्षत्रों के टुकड़े टुकड़े——
विधि—विधान तोड़ेंगे सारा ॥
जाग उठा यौवन—अंगारा ॥

त्याग दूध शिशु, मातृ गोद में,
उभक उभक दे दे कर-ताली।
मचल मचल द्रुत मांग रहे हैं,
शोणित की घूंटें मतवाली

ललक ललक मुख देख रहे हैं,
ये सुकुमार अग्नि-कण मेरा।
जठरानल द्रुत शांत करूंगा,
पिला, पिला शोणित की धारा॥
जाग उठा यौवन-अंगारा।

—१५ जुलाई १९४०

रण-निमंत्रण

देखो ! देखो !! वक्षःस्थल पर,
कितने निष्ठुर घाव लगे हैं ।
छाती में दुख की धड़कन है,
तड़पन भरे प्रभाव जगे हैं ॥

गरम गरम सांसे लेते हैं
तौ भी पड़ती हैं हथकड़ियां ।
उफ़ करते ही पड़ जाती हैं,
पशुबल की वे क्रूर बेड़ियां ॥

कितना हाहाकार देह में,
आंखों में कितनी करुणा है ।
पीली–मुरझाई–सूखी सी,
देह शेष कुछ कुछ अरुणा है ॥

पलती जाती है परवशता,
खोया खोया लगता जीवन ।
मानव पन की निकल रही है,
अर्थी बांध शीश पर कफ़न ॥

महा क्रांति के जय–घोषों से,
वीरों ! बजी आज रण भेरी ।
क़फ़न बगल में ले लो अपने,
त्याग स्वर्ण–चांदी की ढेरी ॥

झनन झनन झन बेड़ी टूटें ।
कड़ी–कड़ी होवें हथकड़ियां ।
सनन सनन सन पवन बिखेरे,
चिर स्वतंत्र-मुक्ता की लड़ियां ॥

भूखी काली कंकाली भी,
नर-मुंडों की माल पहन कर।
-किलक किलक किलकारे भर भर,
रुधिर-बून्द से सूखा खप्पर ॥

चिटख उठे इस नभ की छाती,
भूले पंथ सूर्य भी अपना।
नक्षत्रों से भरी ज्योत्स्ना, और
चन्द्र हो जाये सपना ॥

प्रलय-मेघ-सा गरज गरज तू,
दानवता के ओ प्रतिद्वन्द्वी।
और ढहा दुनियां की पाली,
परवशता जड़ता ये गंदी ॥

धूम केतु बनकर तू छा जा
धरा और नभ में दीवाने।
मिट जायें साम्राज्यवाद के,
ये शोषण से भरे तराने ॥

निकल पड़ो माताओं बहिनों,
फांसी की दीवानी बनकर ।
निकल पड़ो पुरुषों अब घर से,
मातृ-भूमि-बलिदानी बनकर ॥

नहीं देख सकते हम अपने,
अधिकारों की चिता धधकती ।
अरे ! हमारी चिर आजादी
आज नहीं रोके रुक सकती ॥

क्या वह सच्चा शासन है रे,
जहां जीभ पर ताले लटकें ?
बन्धु बन्धु से मिलें नहीं,
नित दग्ध हृदय ले रोते भटकें ?

दूर देश के निज भाई की,
अरे ! नहीं सुन सकते बातें ।
पिट्ठू पाले जाते जिसमें,
स्वाधीनों से होती घातें ॥

नहीं नहीं वह सच्चा शासन,
भार–रूप है वह कलंक है।
विष से भरा हुआ बिच्छू का
क्रूर काल सा महाडंक है॥

मद में अंधा जो भी शासन,
प्रकृति की यह देन तोड़ दे।
हमको भी अधिकार कि ऐसे,
शासन से संग्राम छेड़ दें॥

—४ फरवरी १९४१

मानव के प्रति

रे विजय के मार्ग में
रुकना न तू अनजान होकर ।

आंसुओं से भरी पलकों,
में, कसक पलती मिलेगी ।
दाहिने-बांयें पथों में,
आग भी जलती मिलेगी ॥

मनुज वह, जो सह सके निज,
पंथ की अंगार, छाले ।
आह का तूफान सस्मित,
ओठ में अपने छिपाले ॥

खिल उठेंगे फूल जैसे,
शाप भी वरदान होकर ।
रे ! विजय के मार्ग में रुकना,
न तू अनजान होकर ॥

एक ही पथ है मनुज का—
दूर हो या पास मंजिल ।
विघ्न-बाधा से भरे पथ-
पर चला रथ नित्य तिलतिल ॥

क्या तुझे इससे ? कि—
तेरा अथ कहां था ? इति कहां है ?
हंस उठे रोता हुआ जग
जान गति की इति वहां है ॥

आप नव नव युग जगेंगे,
विगत का अवसान होकर ।
रे, विजय के मार्ग में रुकना—
न तू अनजान होकर ॥

देख मानव का पतन उस,
बुद्ध की पलकें खुली थीं।
गया के पीपल–तले दैवत्व
की मणियां ढुली थीं॥

पुनः हाहाकार में चिर—
शांति का संदेश लेकर।
यीशु आया अखिल जग के
लिए निज बलिदान लेकर॥

पतित नर में भर मनुजता,
क्रूस पर बलिदान होकर।
रे, विजय के मार्ग में रुकना,
न तू अनजान होकर॥

क्षितिज के उस पार से,
चीत्कार आती हो दुखों की।
जल रही हो नग्न भू के....
वक्ष पर होली सुखों की॥

देख मानव का तड़पना,
मूंद लेना तू न लोचन।
भूलकर अपनत्व जलना,
शलभ जैसा नित्य प्रतिक्षण।

आज का मानव पुजेगा,
कल स्वयं भगवान होकर।
रे, विजय के मार्ग में, रुकना
न तू....अनज्ञान होकर॥

—६ जनवरी १९४१

कुचली काया चीर फेंकती,
ज़ुल्मों के इतिहास पुरातन।

मैंने देखे अगणित मानव,
सुख स्वप्नों में पलने वाले।
भूखे और तड़पते नर को,
कुचल कुचल कर चलने वाले॥

सोने-चांदी के गुलाम वे,
वे क्या जानें नरता क्या है!
रक्त-पान कर कहते नरको,
तू जीवित है मरता क्या है ॥

ऊंची गद्दी ऊंची कुर्सी,
रंगमहल के वे अधिवासी।
सदा थूकते झोपड़ियों पर,
चिर मदान्ध कामान्ध विलासी ॥

मां वसुधा की नग्न गोद में,
पड़ रहते हैं बच्चे जिनके।
उनके प्रति तो क्षुद्र हृदय में,
घृणा वास करती है जिनके ॥

घिरते निर्बल प्राण-पखेरू
आहों की जीवित समाधि पर।
मन्द मन्द राक्षसी हास्य ये,
करने उनके उर-रोदन पर ॥

सहते सहते बन जाती है
मूक, अरे! मानव की वाणी।
जीवन-मरण छोड़कर कुछ भी,
नहीं जानता कुचला प्राणी॥

हिंसक पशु सी नर को भूलीं,
ये बर्बर अभिमानी काया।
मज़लूमों पर टिकी हुई है.
जिनकी दौलत जिनकी माया॥

कुचले जाकर भी सदियों से,
उनका पूजन करते आये।
उनके द्वारा मिट मिट कर भी,
बन बन--वन्दन करते आये।

मेरे भोले मूक मनुज! तुम,
सचमुच ही दैवत्व--भरे हो।
मुझे महा आश्चर्य! युगोंसे,
उजड़ उजड़--भी हरे भरे हो॥

जब नरत्त्व ही कुचला जावे,
क्यों न मचें विद्रोह भयंकर ?
क्यों न देश का अधः पतन हो ?
क्यों न जगे फिर यौवन घर घर ?

क्यों न खंडहर हो जायें फिर,
गर्वोन्मत्त महल नभ--चुम्बी ?
क्यों न उठे फुफकार नाग-सी,
कुचली काया भूखी--नंगी ?

तेरा त्राण तुझी में मानव !
तेरी मुक्ति तुझी में मानव !!
अगिनज प्राण तुझी में मानव !
लय की शक्ति तुझी में मानव !!

चिर असाम्य की परिसीमा को,
चूर चूर करता परिवर्तन ।
कुचली काया चीर फेंकती,
ज़ुल्मों के इतिहास--पुरातन ॥

—-१४ सितम्बर १९४१

मुक्ति का द्वार

—★—

खोल ज्ञान की आंखें मानव
खुला मुक्ति का द्वार यहां ।
आज़ादी के अचल सिपाही ।
कारागृह के हंसते राही ॥
देख उन्हीं के वीर--हृदयसे--
निकल रही बलिदानी ज्वाला,
छोड़ तीव्र अंगार यहां ।
खुला मुक्ति का द्वार यहां ॥

जाग उठे अरमान सुप्त वे,
सदियों के सम्मान लुप्त वे ।
जागी सुप्त जवानी रानी,

क्रिये मृत्यु का अभिनन्दन सा
लिये दमन - श्रृंगार यहां ।
खुला मुक्ति का द्वार यहां ॥
चिर स्वतंत्रता--तरु का जीवन,
पा शोणित--सिंचन--अलम्बन ।
बढ़ता अरे ! शुद्ध शोणित मय,
पल्लव की नस नस में जिसके,
अंकित वीरोद्वार यहां ॥
खुला मुक्ति का द्वार यहां ॥
जीवन है मरने वालों का,
शक्ति सुधा भरने वालों का,
जलते शोलों पर बढ़ते जो,
--निज प्राणों के सम्मोहन को,
त्याग विश्व का प्यार यहां ।
खुला मुक्ति का द्वार यहां ॥
सागर से गंभीर शांत जो,

हिमगिरि से उत्तुंग--प्रांत जो,
बलहीनों में जीवन भरते
—कोटि कोटि भूखों में संचित.
है जिनका संसार यहां।
खुला मुक्ति का द्वार यहां ॥
श्रमी—किसानों के दुःख हरते,
लाख प्राण जो कटते मरते,
ये जलते बलिदान देख भी,
—हुआ न जोश अरे कायर नर !
फिर तेरा निस्तार कहां ?
खुला मुक्ति का द्वार यहां ॥
मुक्ति--द्वार--रचना अति दुर्जय,
देख रहा यदि हो तू निर्भय,
साभिलाष तू ललक-पुलक मन,
मुक्ति सिंहासन-प्राप्ति हेतु हर,
दुर्जयता का भार यहां ।

खुला मुक्ति का द्वार यहाँ ॥

यदि सैनिक के दल-बादल में,

तू भी घुमड़ मिले संबल ले,

मातृभूमि के रे ! अभिमानी !

लेना पूर्ण विजय श्री सुन्दर,

या करना तन वार यहां ॥

खुला मुक्ति का द्वार यहां ॥

—१२ दिसम्बर १९३७

IMPERIAL RECORD
No. 2
Date 19.1.44
Department.

[१३२]